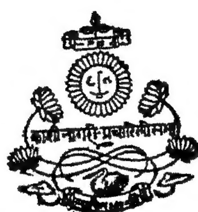
देव-पुरस्कार ग्रंथावली—२

भारत की चित्रकला

कलानां प्रवरं चित्रम्
—विष्णुधर्मोत्तरपुराण

राय कृष्णदास



नागरीप्रचारिणी सभा काशी

१९९६



प्रकाशक—प्रधान मंत्री, ना० प्र० सभा, काशी
प्रथम संस्करण; मूल्य—
सुलभ संस्करण १), विशिष्ट संस्करण १।)

मुद्रक—श्री० अपूर्वकृष्ण बोस,
इंडियन प्रेस लिमिटेड, बनारस-ब्रांच



ग्रंथावली का परिचय

सोलहवीं शती में, भारत में जो नव-जीवन तरंगित हो रहा था उसमें बुंदेलखंड के महाराज वीरसिंहदेव का एक विशेष स्थान है। उन्होंने ओरछा नगर बसाया, वहाँ अनेक भव्य भवन और चतुर्भुज का बड़ा विशाल तथा सुंदर मंदिर बनाया एवं दतिया में तो ऐसा प्रासाद निर्माण किया जैसा मध्य-युग से आज तक उत्तर-भारत में कहीं बना नहीं। हिंदू वास्तु का यह नमूना संसार के खास भवनों में से है। हिंदी कविता में रीति-शैली के जन्मदाता आचार्य केशव-दास उन्हीं के यहाँ राजकवि थे।

इसी बुंदेला राजवंश के समुज्ज्वल रत्न वर्तमान ओरछा-नरेश सवाई महेंद्र महाराज सर वीरसिंहदेव के० सी० एस० आइ० हैं, जिनका प्रगाढ़ हिंदी-प्रेम सराहनीय है। १९९० वि० में द्विवेदी-अभिनंदन उत्सव के सभापति-आसन से, काशी में महाराज ने २०००) वार्षिक साहित्य-सेवा के लिये, राज्य की ओर से देने की घोषणा की थी। इसी घोषणा का मूर्त-स्वरूप **देव पुरस्कार है,** जिसमें २०००) वार्षिक, एक साल ब्रजभाषा के, दूसरे साल खड़ी बोली के सर्वोत्तम काव्य-ग्रंथ पर दिया जाता है। तदनुसार, १९९१ वि० में यह पुरस्कार ब्रजभाषा की 'दुलारे दोहावली' पर श्री दुलारेलाल भार्गव को, १९९२ वि० में खड़ी बोली की 'चित्र-रेखा' पर श्री रामकुमार वर्मा को तथा १९९३ वि० में ब्रजभाषा के 'राम-चंद्रोदय काव्य' पर श्री रामनाथ 'जोतिसी' को दिया गया।



१६६४ वि० में पुरस्कार-योग्य पुस्तक का अभाव रहा। अतएव **पुरस्कार** के इस नियम के अनुसार कि, जिस वर्ष पुरस्कार-योग्य ग्रंथ न हो उस वर्ष की पुरस्कार-निधि उत्तम पुस्तकों के प्रकाशन में लगाई जाय, **पुरस्कार** की संचालक संस्था श्रीवीरेंद्र-केशव-साहित्य परिषद्, टीकमगढ़ ने एक एक हजार रुपया हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग तथा नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के प्रकाशनार्थ प्रदान किया।

सभा ने इस निधि के सधन्यवाद स्वीकार करते हुए निश्चय किया कि इससे **देव-पुरस्कार-ग्रंथावली** का प्रकाशन किया जाय, जिसमें कला और विज्ञान आदि की अच्छी से अच्छी पुस्तकें सुलभ मूल्य पर निकाली जायँ। इस संबंध में हमें जैसे लेखकों का सहयोग प्राप्त हो रहा है उससे पूरी आशा है कि उक्त सात्विक दान द्वारा प्रसूत यह ग्रंथावली अपने उद्देश्यों में सर्वथा सफल होगी।

—प्रकाशक



निवेदन

'भारत की चित्रकला' और 'भारतीय मूर्तिकला' संबद्ध प्रकाशन हैं। अतएव ये संग पढनीय तो हैं ही, इनके 'निवेदन' का विषय भी बहुत कुछ एक है। जैसे, पुस्तक का गड्डमड्डपन; 'इतिहास-प्रवेश' से सहायता लेने के लिये भाई जयचंद्र के धन्यवाद; ऐतिहासिक और सांस्कृतिक काल-विभाजन का सामंजस्य एवं जल्दी में त्रुटियों का रह जाना, (जिसका ज्वलंत उदाहरण है—ई० तीसरी शती के चित्र तथा धर्माचार्य मानी के उत्तर-मध्यकाल में पहुँचा देना; पृ० ६१) इत्यादि।

ऐसी बातों का पुनः पल्लवन अपेक्षित नहीं। हाँ, यह बताना आवश्यक है कि अपनी चित्रकला के इतिहास तथा वर्गीकरण विषयक प्रचलित सिद्धांतों से कतिपय भिन्न मत एवं कुछ समस्याओं के प्रस्तावित हल प्रस्तुत पुस्तक में पाए जायँगे। इनके लिये लेखक जिम्मेदार है। १६१०-११ से जाँच-पड़ताल करते करते वह इन निष्कर्षों पर पहुँचा है, और जब तक ये इदमित्थं सत्य के रूप में प्रत्यक्ष नहीं हो गए, तब तक इन्हें स्वीकार करने में हिचकता रहा है। इनमें की कुछ बातें ऐसी हैं जो उस्ताद रामप्रसाद की पारंपरीण अनुश्रुतियों से प्राप्त हुई हैं। आरंभ में लेखक को यह पता न था कि अपनी चित्रकला के इतिहास में उनका क्या महत्त्व है, किंतु अध्ययन के साथ साथ वह प्रकट होता गया।

ये निष्कर्ष §§ २५, २५ क–ग, २७, २८, २६ क–ख, ३०, ३४, ३५ क—ख-४, ३७, ३८ क, ४० ग–घ, ४२, ४३, ४८, ४६ एवं ५० में निहित हैं। विद्वानों और विचारकों से प्रार्थना है कि इनके विमर्षपूर्वक कोई एक सिद्धांत निश्चित करें।



अन्य पाठकों को भी ये बातें बता देनी आवश्यक थीं, क्योंकि इस विषय के अधिक अध्ययन में ये सहायक होंगी। उन्हें इन पर स्वतंत्र रूप से विचार करना चाहिए और खोज को आगे बढ़ाने में हाथ बँटाना चाहिए।

इसका अजंतावाला अंश अधिकतर श्री रविशंकर रावल के 'अजंता के चित्र-मंडप' पर अवलंबित है, जिसके लिये लेखक हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करता है। अकबर कालीन शोध के लिये डा० परमात्माशरण तथा श्री ब्रजरत्नदास ने मूल फारसी अवतरण निकालने में जो सहायता दी है तदर्थ वह उनका आभारी है।

'चित्रकला' के इस संस्करण में एक रंगीन और सत्ताईस सादे चित्र दिए जा रहे हैं। इनमें से मुख-चित्र के लिये प्रवासी प्रेस, कलकत्ता को और फलक—२ तथा ७-क; ७-ख तथा १२ एवं ६ तथा २४ के लिये यथानुक्रम सरस्वती पब्लिशिंग हाउस, प्रयाग, गीता प्रेस गोरखपुर, और इंडियन प्रेस, प्रयाग को धन्यवाद है।

कला-भवन के सहायक संग्रहाध्यक्ष श्री विजयकृष्ण ने पुस्तक की तैयारी में विशेष सहायता दी है; इसी प्रकार श्री शंभुनारायण चतुर्वेदी तथा श्री शंभुनाथ वाजपेयी ने कापी प्रस्तुत करने में परिश्रम किया है। इन सज्जनों को उनकी कृपा के लिये धन्यवाद है। और, पुनः पुनः साधुवाद है श्री लल्लीप्रसादजी पांडेय का जिन्होंने पूर्व-वत् पूर्ण साहाय्य प्रदान किया है।

काशी, —लेखक

अधिक श्रावण शु० ११, १९९६



तालिका





फलकों का उल्लेख



भारतीय चित्रों के मुख्य संग्रहालय

इलाहाबाद, म्यूनिसिपल संग्रहालय; औंध, राजकीय संग्रहालय; कलकत्ता—इंडियन संग्रहालय, बंगीय साहित्य परिषद्, विक्टोरियामेमोरियल हॉल; चंबा, भूरिसिंह संग्रहालय; त्रिवेंद्रम्, श्री चित्रालयम्; दिल्ली—आर्किओलॉजिकल तथा सेंट्रल एशियन संग्रहालय; पटना—खुदाबख्श पुस्तकालय, पटना संग्रहालय; पूना, भारतीय इतिहास संशोधक मंडल; बंबई, प्रिंस ऑव वेल्स संग्रहालय; बड़ौदा, राजकीय संग्रहालय; बनारस, भारत कला-भवन; बोलपुर, कला-भवन (शांति-निकेतन); लाहौर, केंद्रीय संग्रहालय; हैदराबाद (दकन)।

ऑक्सफर्ड, बॉड्लियन पुस्तकालय; न्यूयार्क, मेट्रोपोलिटन संग्रहालय; पेरिस—राष्ट्रीय पुस्तकालय तथा लूव्र संग्रहालय; बर्लिन, राजकीय पुस्तकालय; बोस्टन संग्रहालय; लंदन—इंडिया आफिस, ब्रिटिश संग्रहालय, साउथ केंसिंग्टन संग्रहालय; वॉशिंगटन, फ्रीर आर्ट गेलरी।

भारतीय चित्रों के मुख्य निजी संग्रह

कलकत्ता—श्री अजित घोष; श्री अवनींद्रनाथ ठाकुर; श्री बहादुरसिंह सिंघी; पटना, रा० ब० राधाकृष्ण जालान; बनारस, श्री सीताराम साह; रामपुर, राज्य पुस्तकालय।

लंदन—श्री चेस्टर बेटी।

द्रष्टव्य तथा सहायक ग्रंथ

इंडिया सोसायटी, लंदन—
बाघ केव्ज़ १६२७।



कुमारस्वामी; आनंद के०,—

इंडियन ड्रॉइंग्स, २ भाग; लंदन .

बोस्टन संग्रहालय कैटलॉग, भाग ५ (राजपूत चित्र)

बोस्टन, १६२६ .

बोस्टन संग्रहालय कैटलॉग, भाग ६ (मुगल चित्र),

बोस्टन, १६३० .

राजपूत पेंटिंग, दो भाग; लंदन .

हिस्ट्री ऑव इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट,लंदन, १६२७ .

क्लार्क; सी० स्टैनले,—

इंडियन ड्राइंग्ज, लंदन, १६२१ (हम्जा चित्रावली) .

" " " " (वैंटेज प्रदान) .

जयचंद्र विद्यालंकार—

इतिहास-प्रवेश, प्रयाग, १६३८ .

स्चुकिन; इवैन,—

मुगल कला विषयक फ्रेंच पुस्तक, पेरिस, १९२६ .

देवीप्रसाद; मुंशी,—

जहाँगीरनामा, कलकत्ता, १६०५ .

नवाब; साराभाई मणिलाल,—

जैन चित्र-कल्पद्रुम, अहमदाबाद, १६३६ .

बेनियन; लॉरेंस,—

कोर्ट पेंटर्स ऑव द ग्रैंड मुगल्स; ऑक्सफर्ड, १६२१ .

ब्राउन; पर्सी,—

इंडियन पेंटिंग अंडर द मुगल्स; ऑक्सफर्ड, १६२४ .

इंडियन पेंटिंग .



मेहता; न्हानालाल चमनलाल,—
स्टडीज इन इंडियन पेंटिंग, बंबई .
भारतीय चित्रकला, इलाहाबाद, १९३३ .
रावल; रविशंकर महाशंकर,—
अजंता के कलामंडप, अहमदाबाद, १९३७ .
स्मिथ; विंसेंट,—
अे हिस्ट्री ऑव फाइन आर्ट इन इंडिया अैंड सीलोन, ऑक्सफर्ड, १९३० .
हेरिंघम; लेडी,—
अजंता फ्रेस्कोज .
हैवेल; ई० बी०,—
इंडियन स्कल्प्चर अैंड पेंटिंग, लंदन, १९०८ .

निर्देश

ना० प्र० प० (नवीन) — नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण .

स्मिथ — — अे हिस्ट्री ऑव फाइन आर्ट इन इंडिया अैंड सीलोन .

पारिभाषिक शब्द

(जिनकी व्याख्या यथास्थान नहीं दी गई है)

सं० = संज्ञा, वि० = विशेषण, क्रि० = क्रिया

अभिप्राय—सं० कोई चल वा अचल, सजीव वा निर्जीव, प्राकृतिक अथवा काल्पनिक वस्तु जिसकी अलंकृत एवं अतिरंजित आकृति, मुख्यत: सजावट के लिये किसी कला-कृति में बनाई जाय (मोटिफ़)।



अस्तर-बट्टी—सं० (अस्तर + बट्टी) अस्तर, वह मसाला जिससे **जमीन** बाँधी जाय; बट्टी, उस जमीन के घोंट कर बराबर करने के लिये चिकने पत्थर की बट्टी।

आदम-कद—वि० आदमी की ऊँचाई के बराबर कोई चित्र वा मूर्ति।

आलेखन—सं० चित्रविन्यास, **लिखाई**। क्रि० चित्र अंकित करना।

उरेहना—क्रि० चित्र अंकित करना।

कलम—सं० गिलहरी की पूँछ के रोएँ से बना आलेखन का उपकरण (ब्रश); आलेखन-शैली।

कुनियाँ, कोनियाँ—सं० किसी चतुष्कोण कृति में चारों कोने का अलंकरण।

गोमूत्रिका—सं० इस आकृति की ~~ बेल। बैल जब चलता रहता है तो उसके मूत्र का चिह्न उक्त आकार का पड़ता है। बैल-मूतनी; बरद-मुतान।

चेहरई—सं० चेहरे की रंगत।

जमीन—सं० चित्र लिखने के लिये अस्तर की हुई उपयुक्त सतह। क्रि० जमीन बाँधना, अस्तर लगाकर जमीन तैयार करना।

झलक—सं० वह प्रधान रंगत (= आभा) जो समूचे चित्र में व्याप्त हो।

टपरना—क्रि० पत्थर को टाँकी की चोट से खुरदरा बनाना।

तरह—सं० रचना-प्रकार, आलंकारिक अंकन (डिज़ाइन)।

दम-खम—सं० जानदार—बिना टूटवाली, एवं गोलाई लिए—बंकिम (मूर्ति की गढ़न वा चित्र की रेखाएँ)।



दृष्टिक्रम, दृष्टिपरंपरा—सं० दर्शक को यथाक्रम एक के बाद दूसरी वस्तु दीख पड़ने की अभिव्यक्ति (पर्सपेक्टिव)।

परदाज—सं० अभीष्ट रंगत लाने वा साट को मिटाने के लिये इतने पास पास लिखे महीन बिंदु कि वे एक जान पड़ें और उनसे अभीष्ट परिणाम निकल आवे।

पृष्ठिका –सं० किसी मूर्ति वा चित्र में दिखाया गया सबसे पीछे का भाग जो अंकित दृश्य वा घटना का आश्रय होता है (बक्ग्राउंड)।

मोहरा—सं० **ओपनी**, एशब वा अकीक पत्थर की एक छोटी-सी गुल्ली जिससे रगड़ कर चित्र पर के सोने-चाँदी को ओपते वा चमकाते हैं। क्रि० **मोहरा करना,** मोहरे से घोंट कर ओप पैदा करना।

रेखांकण—सं० **रेखाचित्र** (ड्रॉइंग)।

लिखाई—सं० चित्र-विन्यास; चित्रांकण की क्रिया का भाव।

वजन—सं० भार; वह अधिकता जिसके कारण चित्र का एक अंग दूसरे से न्यून या विषम हो जाय।

वर्णिका—सं० अमुक-अमुक रंगों का समवाय जो किसी चित्र वा शैली में विशेष रूप से बरता जाय। देखिए **वर्णिकाभंग** पृ० ६।

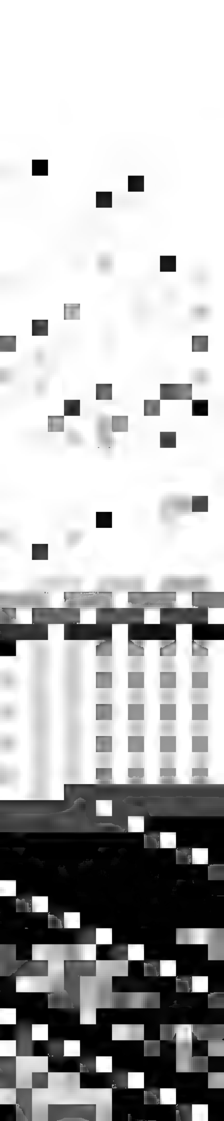
शबाहत—सं० किसी रूप की विशेषताएँ।

शबीह—सं० व्यक्तिचित्र, किसी रूप का तद्वत् अंकन।

शैली—सं० **कलम;** चित्रों का कोई वर्ग जिनकी विशेषताओं में अंकन-सिद्धांत एवं चित्रकारों की मनोवृत्ति की एकता के कारण साम्य हो।

संयोजन—सं० किसी अंकन में प्रभाव एवं रमणीयता उत्पन्न करने के लिये आकृतियों को ठीक ठिकाने 'बैठाना' (=जुहाना)।

हमवजन—सं० भारसाम्य; चित्र के सब अंगों में समानता।



उस्ताद रामप्रसाद

को

'बलिहारी गुरु आपकी, गोबिँद दियो दिखाय'

गुरुपूर्णिमा, '६६







भारत की चित्रकला

पहला अध्याय

§ १. **परिभाषा**—एक तल (सतह) पर, चाहे वह सम हो वा असम, पानी वा तेल में घोले हुए अथवा सूखे, एक वा एकाधिक रंग से आलेखन करके आकृति एवं लंबाई, चौड़ाई तथा मुटाई दरसाने को चित्रण कहते हैं। उक्त आधारभूत सतह मुख्यतः पत्थर, काठ, हाथीदाँत, चमड़ा, कपड़ा, तालपत्र वा कागद होती है।



§ १. **प्रागैतिहासिक काल, मोहनजोदड़ो आदि**—चित्रण की प्रवृत्ति मनुष्य में उस समय से है जब वह वनौकस था। अपना सांस्कृतिक विकास करने के लिये उसने संस्कृति के जिन अंगों से श्रीगणेश किया था उनमें चित्रकला भी एक थी। निदान संसार भर में आदिम मनुष्य के—वनवासी गुहा-गृही मनुष्य के—अंकित चित्र मिलते हैं। इनका सिलसिला उस समय से चलता है जब वह धातुओं का व्यवहार तक न जानता था और कड़े पत्थरों के अनगढ़ शस्त्रों और औजारों से काम लेता था। इस जमाने का आरंभ आज से दस बारह हजार बरस पूर्व वा, कुछ विद्वानों के मत से, लगभग चालीस हजार बरस पूर्व हुआ था।

ये चित्र विषय, शैली तथा सामग्री की दृष्टि से उस समय के मानव-जीवन के प्रतीक हैं। अर्थात् इनके विषय मुख्यतः जानवर, उनका आखेट करते हुए मनुष्य, आपस में युद्ध करते हुए मनुष्य एवं पूजनीय आकृतियाँ हैं। इनकी शैली आदिम है। इनकी सामग्री धातु-रंग (खनिज रंग, मुख्यतः गेरू, रामरज और हिरौंजी) हैं तथा इनके स्थान उक्त गुहा-गृह एवं खुली चट्टानें हैं।

इनमें मुख्यतः दो मनोवृत्तियाँ पाई जाती हैं—१–अपने इर्दगिर्द के जगत् की स्मृति एवं उस पर अपनी विजय का इतिहास बनाए रखना; अथच २–अपनी अमूर्त भावना को मूर्त रूप प्रदान करना। ये ही दोनों मनोवृत्तियाँ समूची मानव-उन्नति की मूल हैं।



ई० पू० ३सरी ४थी सहस्राब्दी में चीन के पीत नद से लेकर लघु एशिया तक और इधर भारत तक एक ऐसी मानव सभ्यता फैली हुई थी जिसे आजकल के पुरातत्त्ववेत्ता रँगे मिट्टी के बर्तनों की सभ्यता कहते हैं। उक्त क्षेत्रों में जो मानव-समाज रहते थे उनके अभिजन में तथा सभ्यता की अन्य बातों में चाहे जितनी भिन्नता रही हो, किंतु इस बात में वे एक थे कि वे अपने पकाई मिट्टी के बर्तनों को बड़ी सुंदर सुंदर तरहों से अलंकृत करते थे। इन तरहों में से कितनी तो ऐसी हैं जिनमें कला अपनी आरंभिक अवस्था में है। किंतु अनेक ऐसी भी हैं जो आज के तरहों से किसी बात में पिछड़ी नहीं हैं; कुछ तो ऐसी हैं जो एक पग आगे बढ़ी हैं।

भारत में इस कला के प्रतिनिधि नाल (बलूचिस्तान) तथा सिंध काठे के मोहनजोदड़ो, हड़पा और चानूदड़ो में पाए गए मिट्टी के बरतन हैं। ऐसा अनुमान होता है कि यह संस्कृति गंगा-यमुना और नमदा के काँठों तक फैली हुई थी। इन बर्तनों में से कुछ तो गृहस्थी के कामों में आते थे और कुछ में शव गाड़े जाते थे। इन्हें देखने से जान पड़ता है कि उन जातियों का कला-प्रेम इतना बढ़ा हुआ था कि वे अपने रोज के बरते जानेवाले पात्रों को भी सादा न देख सकते थे एवं कला उनके जीवन ही नहीं, मरण तक की संगिनी थी।



इन पात्रों पर की **तरहों** में ज्यामितिक आकृतियों की अर्थात् सरल रेखाओं, कोणों, वृत्तों और वृत्तांशों से बने अलंकरणों की अधिकता है। इनके सिवा फूलों, पत्तियों और पशु-पक्षियों की आकृतियों का भी उपयोग किया गया है (फलक—१,२)। मुख्यतः पशु-पक्षियों की आकृतियों से ही इस कला की आरंभिकता प्रकट होती है। इन **तरहों** में से कुछ ऐसी हैं जिनकी परंपरा भारतीय कला में बनी रही है। शेष में से अनेक ऐसी हैं जिनकी परंपरा फिर से चलाने की आवश्यकता है; उनके सौंदर्य के कारण।

रँगे बर्तनों के सिवा मोहनजोदड़ो में रँगी हुई मूर्तियाँ भी मिली हैं जिन्हें चित्रों के ही अंतर्गत समझना चाहिए।

अभी तक मोहनजोदड़ो आदि के इतिहास का पता नहीं लगा है। किंतु ऐसा संभव नहीं कि वहाँ की लुप्त सभ्यता का हमारी सभ्यता से कोई संबंध न रहा हो। उनकी संस्कृति का दाय हमारी संस्कृति में चला आ रहा है।

§ ३. **चित्र के प्राचीन उल्लेख**—ऋग्वेद (१।१४५) में चमड़े पर बने अग्नि के चित्र की चर्चा है। इससे हमारी चित्र-कला की परंपरा उस काल से प्रमाणित होती है। पाणिनि ने संघ-राज्यों (पंचायती राज्यों) के अंक और लक्षणों की चर्चा की है। इन लक्षणों से उन राज्यों के चिह्नों का मतलब है जो पशु, पक्षी, पुष्प, वृक्ष वा नदी, पर्वत आदि होते थे। इसी प्रकार उन्होंने



पशुओं को चिह्नित करने के लिये कुछ लक्षणों की चर्चा की है। ये सब लक्षण बिना रेखांकण (ड्राइंग) के नहीं बन सकते। अतएव पाणिनि के समय में अर्थात् ई० पू० ८वीं शती में भी चित्रों का पर्याप्त प्रचार रहा होगा। बुद्ध के समय में चित्रकला का इतना प्रचार था कि उन्हें अपने अनुयायियों को उसमें न प्रवृत्त होने की आज्ञा देनी पड़ी। ३सरी ४थी शती ई० पू० के बौद्ध ग्रंथ विनय-पिटक तथा थेर-थेरी गाथा में चित्रों का उल्लेख है किंतु उस समय के नमूने अभी तक नहीं मिले हैं। केवल एक नमूना मिला है जो न मिलने के बराबर है (§ ७)। परंतु ई० पू० २सरी शती और उसके बाद से चित्रों के उल्लेखों और नमूनों की संख्या बढ़ने लगती है। उनकी चर्चा में प्रवृत्त होने के पहिले, यहाँ पर थोड़े में अपने यहाँ के चित्र-विषयक सिद्धांत, चित्रों के भेद एवं उनका उद्देश्य बता देना आवश्यक है।

§ ४. **चित्र के छः अंग**—वात्स्यायन के कामसूत्र पर यशोधर नामक एक प्राचीन विद्वान् ने टीका की है। उसमें चित्र-कला की व्याख्या करते हुए उसने पहले का एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें चित्रकला के छः अंग बतलाए गए हैं, यथा—१–रूपभेद २–प्रमाण ३–भाव ४–लावण्य-योजना ५–सादृश्य तथा ६–वर्णिका-भंग। इन छः अंगों की सूक्ष्म व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—



१—**रूपभेद**—हर प्रकार की आकृतियों और उनकी विशेषताओं का विभेद। इसमें मानव-आकृति के लक्षण तथा अभिजात भी सम्मिलित हैं। लक्षण से तात्पर्य हिंदू सामुद्रिक की उन विशेषताओं से है जिनके होने से मनुष्य राजा, महापुरुष, योगी वा योद्धा इत्यादि होता है।

२—**प्रमाण**—इसे मुगल शैली के भारतीय चित्रकार **अंग-कद** वा **कद-कँडा** कहते हैं। कद का तात्पर्य यह हुआ कि स्त्री का सारा शरीर उसके चेहरे की नाप से सतगुने से अधिक न होना चाहिए। इसी प्रकार पुरुष का अठगुने से अधिक नहीं। कँड़े का तात्पर्य यह है कि अंगों में समविभक्तता हो, यह नहीं कि आँख बहुत बड़ी या छोटी, नाक बहुत लंबी या चिपटी इत्यादि। साथ ही कद के अनुपात में वे बड़े छोटे न हों। प्राचीन चित्रकारों में देवतादि तथा उच्च एवं नीच वर्गों के मनुष्यों के कदों का हिसाब अलग अलग रखा है।

३—**भाव**—यह भारतीय चित्रकारी की सर्वप्रधान विशेषता है, अतएव इस पर कुछ अधिक कहने की आवश्यकता है—कालिदास के मेघदूत का विरही यक्ष मेघ से कहता है कि संभवतः तुम मेरी पत्नी को मेरा भावगम्य चित्र बनाती हुई पाओगे। यहाँ भाव का तात्पर्य यह हुआ कि वह अपने बिछुड़े हुए पति का स्मृति-चित्र नहीं बना रही थी बल्कि उसकी अंतर्वृत्ति की पहुँच (गम), उसके अंतर्नयन की दृष्टि, उसकी कल्पना की उड़ान यक्ष की वियोगजनित मान-



सिक और शारीरिक दशा तक थी और उसे ही वह अंकित कर रही थी। स्मृति-चित्र और भावचित्र के इस सूक्ष्म भेद को भली भाँति समझ लेना चाहिए। भाव-चित्र में चित्रकार (भावुक) और चित्र के विषय (भाव्य) की, कल्पना के द्वारा एकतानता हो जाती है। इस एकतानता से चित्र में जो बात पैदा होती है वही है भाव। अर्थात् चित्रकार, चित्रित किए जानेवाले विषय की सम्यक् अनुभूति और उसके प्रति सम्यक् सहानुभूति के कारण, उसकी ऐसी आकृति अंकित करने में समर्थ होता है जिसमें वाह्य सादृश्य ही नहीं अंतस्तल का, अर्थात् स्थूल शरीर का ही नहीं प्रत्युत सूक्ष्म शरीर का **आलेखन** भी होता है। अपने यहाँ के चित्रकारों को यह सिद्धान्त अभी तक इस रूप में याद है कि—चित्र में भाव रहे, परंतु चेष्टा न रहे। चेष्टा से यहाँ चेष्टित (बनावट) का तात्पर्य है। उस्ताद रामप्रसाद इस अंतर की व्याख्या एक उदाहरण द्वारा किया करते हैं—मान लीजिए कि राम-निषाद-मिलन का एक चित्र है। यदि देखनेवाले पर उसका यह प्रभाव पड़ता है कि गुह सच्ची भक्ति-भावना और दीनता से भगवान् का स्वागत कर रहा है कि आज मुझे भवसागर से पार कर देनेवाला आ गया तो समझना चाहिए कि चित्रकार भाव के अंकन में समर्थ हुआ है। किंतु यदि चित्र देखने में ऐसा लगता है कि निषाद गिड़गिड़ाकर आवभगत तो कर रहा है लेकिन मौका पाते ही वह राम-



चंद्र के मूस-मास कर किस्सा खतम कर देगा तो यह चित्र में भाव नहीं, चेष्टा हुई। अर्थात् पहले में उसकी मनोवृत्ति का भी अंकन रहता है और दूसरे में केवल उसके अभिनय का। अन्य शब्दों में पहले में चित्रकार की अनुभूति गुह की मनोवृत्ति का साक्षात्कार करके उसे व्यक्त करने में समथ होती है, किंतु दूसरे में उसकी पहुँच केवल निषाद के अभिनय तक रह जाती है।

चित्रकार की इस भावाभिव्यक्ति की सहृदय देखनेवाले को जो अनुभूति होती है अर्थात् चित्रकार अपनी ऐसी कृति द्वारा दर्शक के मन में जो भावोदय करता है वही साहित्यशास्त्र का 'रस' है।

४—**लावण्य-योजना**—भाव के साथ लावण्य की योजना भी होनी चाहिए। भाव का संबंध तो आंतरिक विकारों से है। लावण्य वाह्य सौंदर्य का व्यंजक है। इसलिये चित्र में भाव के साथ साथ लुनाई की सृष्टि भी होनी चाहिए। मुगल शैली के भारतीय चित्रकार का सिद्धांत है कि **शबीह** (व्यक्ति-चित्र) सुंदर होकर मिलनी चाहिए **अर्थात् शबाहत** जाने न पावे, साथ ही उसमें खूबसूरती भी पैदा हो जाय। यही है चित्र में लावण्य-योजना। शकुंतला से ज्ञात होता है कि खिलौनों को कालिदास के समय में लावण्य कहते थे (शकुंत-लावण्यं आनय)। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शकुंत पक्षी जितना सुंदर होता है उससे भी अधिक सौंदर्य